श्रीमद् भागवत का यह सार
भगवद् भक्ति ही आधार

श्रीमद्भागवत रसिक कुटुंब

रास पंचाध्याय(10.32)

भक्तों मे ज्यों गोपी श्रेष्ठ, मुनियों में ज्यों व्यास।
पुराणों में ज्यों भागवतम्, लीला में महारास।।

नारायणं(न्) नमस्कृत्य, नरं(ञ्) चैव नरोत्तमम्।
देवीं(म्) सरस्वतीं(वँ) व्यासं(न्), ततो जयमुदीरयेत्॥

नामसङ्कीर्तनं(यँ) यस्य, सर्वपापप्रणाशनम्।
प्रणामो दुःखशमनस्, तं(न्) नमामि हरिं(म्) परम्॥

श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

दशमः स्कंध:

अथ द्वात्रिंशोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

इति गोप्यः(फ्) प्रगायन्त्यः(फ्), प्रलपन्त्यश्च चित्रधा ।
रुरुदुः(स्) सुस्वरं(म्) राजन्, कृष्णदर्शनलालसाः ॥ 1॥

प्रगा+ यन्त्यः(फ्), प्रलपन्+ त्यश्च

श्रीशुकदेवजी कहते हैं - परीक्षित्! भगवान् की प्यारी गोपियाँ विरह के आवेश में इस प्रकार भाँति-भाँति से गाने और प्रलाप करने लगीं। अपने कृष्ण-प्यारे के दर्शन की लालसा से वे अपने को रोक न सकीं, करुणा जनक सुमधुरस्वर से फूट-फूटकर रोने लगीं ॥ 1 ॥

तासामाविरभूच्छौरिः(स्), स्मयमानमुखाम्बुजः ।
पीताम्बरधरः(स्) स्रग्वी, साक्षान्मन्मथमन्मथः ॥ 2॥

तासामा+ विरभूच् + छौरिः(स्), स्मयमा+ नमुखाम्बुजः, साक्षान्+ मन्मथ+ मन्मथः

ठीक उसी समय उनके बीचो-बीच भगवान् श्रीकृष्ण प्रकट हो गये। उनका मुख कमल मन्द मन्द मुसकान से खिला हुआ था। गले में वनमाला थी, पीताम्बर धारण किये हुए थे। उनका यह रूप क्या था, सबके मनको मथ डालने वाले कामदेव के मन को भी मथने वाला था ॥ 2 ॥

तं(वँ) विलोक्यागतं(म्) प्रेष्ठं(म्), प्रीत्युत्फुल्लदृशोऽबलाः ।

उत्तस्थुर्युगपत् सर्वास्- तन्वः(फ्) प्राणमिवागतम् ॥ 3॥

प्रीत्युत् + फुल्लदृशोऽ+ बलाः, उत्तस् + थुर्युगपत्

कोटि-कोटि कामों से भी सुन्दर परम मनोहर प्राणवल्लभ श्यामसुन्दर को आया देख गोपियों के नेत्र प्रेम और आनन्द से खिल उठे। वे सब की सब एक ही साथ इस प्रकार उठ खड़ी हुई, मानो प्राणहीन शरीर में दिव्य प्राणों का सञ्चार हो गया हो, शरीर के एक-एक अङ्ग में नवीन चेतना-नूतन स्फूर्ति आ गयी हो ॥ 3 ॥

काचित् कराम्बुजं(म्) शौरेर्- जगृहेऽञ्जलिना मुदा ।

काचिद् दधार तद्बाहु- मं(म्)से चन्दनरूषितम् ॥ 4॥

चन्द+ नरूषितम्

एक गोपी ने बड़े प्रेम और आनन्द से श्रीकृष्ण के करकमल को अपने दोनों हाथों में ले लिया और वह धीरे-धीर उसे सहलाने लगी। दूसरी गोपी ने उनके चन्दनचर्चित भुजदण्ड को अपने कंधे पर रख लिया॥ 4 ॥

काचिदञ्जलिनागृह्णात्- तन्वी ताम्बूलचर्वितम् ।

एका तदङ्घ्रिकमलं(म्), सन्तप्ता स्तनयोरधात् ॥ 5॥

काचिदञ्+ जलिना+ गृह्णात् , ताम्बू+ लचर्वितम्

तीसरी सुन्दरी ने भगवान् का चबाया हुआ पान अपने हाथों में ले लिया। चौथी गोपी, जिस के हृदय में भगवान् के विरह से बड़ी जलन हो रही थी, बैठ गयी और उनके चरण कमलों को अपने वक्षःस्थल पर रख लिया ॥ 5 ॥

एका भ्रुकुटिमाबध्य, प्रेमसं(म्)रम्भविह्वला ।

घ्नतीवैक्षत् कटाक्षेपैः(स्), सं(न्)दष्टदशनच्छदा ॥ 6॥

प्रेमसं(म्)रम् + भविह्वला , घ्नती+ वैक्षत् , सं(न्)दष्ट+ दशनच् + छदा

पाँचवीं गोपी प्रणय कोप से विह्वल होकर, भहिं चढ़ाकर, दाँतों से होठ दबाकर अपने कटाक्ष-बाणों से बींधती हुई उनकी ओर ताकने लगी ॥ 6 ॥

अपरानिमिषद्दृग्भ्यां(ञ्), जुषाणा तन्मुखाम्बुजम् ।

आपीतमपि नातृप्यत्, सन्तस्तच्चरणं(यँ) यथा ॥ 7॥

अपरा+ निमिषद्+ दृग्भ्यां(ञ्), तन्मुखाम् + बुजम् ,सन्तस्+ तच्+ चरणं(यँ)

छठी गोपी अपने निर्निमेष नयनों से उनके मुख कमल का मकरन्द-रस पान करने लगी। | परन्तु जैसे संत पुरुष भगवान् के चरणों के दर्शन से कभी तृप्त नहीं होते, वैसे ही वह उनकी मुख-माधुरी का निरन्तर पान करते रहने पर भी तृप्त नहीं होती थी ॥ 7 ॥

तं(ङ्) काचिन्नेत्ररन्ध्रेण, हृदिकृत्य निमील्य च ।

पुलकाङ्ग्युपगुह्यास्ते, योगीवानन्दसम्प्लुता ॥ 8॥

काचिन्+ नेत्ररन्+ ध्रेण, पुलकाङ्+ ग्युप+ गुह्यास्ते, योगीवा+ नन्दसम्प्लुता

सातवीं गोपी नेत्रों के मार्ग से भगवान् को अपने हृदय में ले गयी और फिर उसने आँखें बंद कर लीं। अब मन-ही-मन भगवान् का आलिङ्गन करने से उसका शरीर पुलकित हो गया, रोम-रोम खिल उठा और वह सिद्ध योगियों के समान परमानन्द में मन हो गयी ॥ 8 ॥

सर्वास्ताः(ख्) केशवालोक- परमोत्सवनिर्वृताः ।

जहुर्विरहजं(न्) तापं(म्), प्राज्ञं(म्) प्राप्य यथा जनाः ॥ 9॥

परमोत्+ सवनिर्वृताः

परीक्षित्! जैसे मुमुक्षुजन परम ज्ञानी संत पुरुष को प्राप्त करके संसार की पीड़ा से मुक्त हो जाते हैं, वैसे ही सभी गोपियों को भगवान् श्रीकृष्ण के दर्शन से परम आनन्द और परम उल्लास प्राप्त हुआ। उनके विरह के कारण गोपियों को जो दुःख हुआ था, उससे वे मुक्त हो गयीं और शान्ति के समुद्र में डूबने-उतराने लगीं ॥ 9 ॥

ताभिर्विधूतशोकाभिर्- भगवानच्युतो वृतः ।

व्यरोचताधिकं(न्) तात, पुरुषः(श्) शक्तिभिर्यथा ॥ 10॥

ताभिर्विधू+ तशोकाभिर्, भगवा+ नच्युतो

परीक्षित्! यों तो भगवान् श्रीकृष्ण अच्युत और एकरस है, उनका सौन्दर्य और माधुर्य निरतिशय है; फिर भी विरह व्यथा से मुक्त हुई गोपियों के बीच में उनकी शोभा और भी बढ़ गयी। ठीक वैसे ही, जैसे परमेश्वर अपने नित्य ज्ञान, बल आदि शक्तियों से सेवित होने पर और भी शोभायमान होता है ॥ 10 ॥

ताः(स्) समादाय कालिन्द्या, निर्विश्य पुलिनं(वँ) विभुः ।

विकसत्कुन्दमन्दार- सुरभ्यनिलषट्पदम् ॥ 11॥

विकसत् + कुन्दमन्दार, सुरभ्य+ निलषट्पदम्

इसके बाद भगवान् श्रीकृष्ण ने उन व्रजसुन्दरियों को साथ लेकर यमुनाजी के पुलिन में प्रवेश किया। उस समय खिले हुए कुन्द और मन्दार के पुष्पों की सुरभि लेकर बड़ी ही शीतल और सुगन्धित मन्द मन्द बाबु चल रही थी और उसकी महक में मत वाले होकर भौरे इधर-उधर मँडरा रहे थे ॥ 11 ॥

शरच्चन्द्रां(म्)शुसन्दोह- ध्वस्तदोषातमः(श्) शिवम् ।

कृष्णाया हस्ततरला- चितकोमलवालुकम् ॥ 12॥

शरच् + चन्द्रां(म्)शु+ सन्दोह, ध्वस्त+ दोषातमः(श्)

शरत्पूर्णिमा के चन्द्रमा की चांदनी अपनी निराली ही दि रही थी। उसके कारण रात्रि के अन्धकार का तो कहीं पता होन था, सर्वत्र आनन्द-मङ्ग॰ल का ही साम्राज्य छाया था। वह पुलिस क्या था, यमुनाजी ने स्वयं अपनी लहरों के हाथों भगवान् को लीला के लिये सुकोमल बालुका का रंगमञ्च बना रखा था ॥ 12 ॥

तद्दर्शनाह्लादविधूतहृद्रुजो,

मनोरथान्तं(म्) श्रुतयो यथा ययुः ।

स्वैरुत्तरीयैः(ख्) कुचकुं(ङ्)कुमां(ङ्)कितै-

रचीक्लृपन्नासनमात्मबन्धवे ॥ 13॥

तद्दर्शनाह् + लादविधू+ तहृद्रुजो, रचीक्लृपन्ना+ सनमात् + मबन्धवे

परीक्षित् ! भगवान् श्रीकृष्ण के दर्शन से गोपियों के हृदय में इतने आनन्द और इतने रसका उल्लास हुआ कि उनके हृदय की सारी अधि-व्याधि मिट गयी। जैसे कर्मकाण्ड की श्रुतियाँ उसका वर्णन करते-करते अन्त में ज्ञानकाण्ड का प्रतिपादन करने लगती है और फिर वे समस्त मनोरथों से ऊपर उठ जाती हैं, कृतकृत्य हो जाती हैं - वैसे ही गोपियाँ भी पूर्णकाम हो गयीं। अब उन्होंने अपने वक्षःस्थल पर लगी हुई रोली-केसर से चिह्नित ओढ़नी को अपने परम प्यारे सुहद् श्रीकृष्ण के विराज ने के लिये बिछा दिया ॥ 13॥

तत्रोपविष्टो भगवान् स ईश्वरो

योगेश्वरान्तर्हृदि कल्पितासनः ।

चकास गोपीपरिषद्गतोऽर्चितस् -

त्रैलोक्यलक्ष्म्येकपदं(वँ) वपुर्दधत् ॥ 14॥

योगेश्वरान्+ तर्हृदि, गोपीपरिषद्+ गतोऽर्चितस्, त्रैलोक्य+ लक्ष्म्ये+ कपदं(वँ)

बड़े-बड़े योगेश्वर अपने योगसाधन से पवित्र किये हुए हृदय में जिनके लिये हुए। आसन की कल्पना करते रहते हैं, किंतु फिर भी अपने हृदय सिंहासन पर बिठा नहीं पाते, वही सर्वशक्तिमान् भगवान् यमुनाजी की रेती में गोपियों की ओढ़नी पर बैठ गये। सहस्र सहस्र गोपियों के बीच में उनसे पूजित होकर भगवान् बड़े ही शोभायमान हो रहे थे। परीक्षित तीनों लोकों में— तीनों कालों में जितना भी सौन्दर्य प्रकाशित होता है, वह सब तो भगवान् के बिन्दुमात्र सौन्दर्य का आभास भर है। वे उसके एक मात्र आश्रय हैं ॥ 14 ॥

सभाजयित्वा तमनङ्गदीपनं(म्)

सहासलीलेक्षणविभ्रमभ्रुवा ।

सं(म्)स्पर्शनेनाङ्ककृताङ्घ्रिहस्तयोः(स्)

सं(म्)स्तुत्य ईषत्कुपिता बभाषिरे ॥ 15॥

सहासली+ लेक्षण+ विभ्रम+ भ्रुवा, सं(म्)स्पर्शनेनाङ्+ ककृताङ्+ घ्रिहस्तयोः(स्)

भगवान् श्रीकृष्ण अपने इस अलौकिक सौन्दर्य के द्वारा उनके प्रेम और आकाङ्क्षा को और भी उभाड़ रहे थे। गोपियों ने अपनी मन्द मन्द मुसकान, विलासपूर्ण चितवन और तिरछी भौहों से उनका सम्मान किया। किसी ने उनके चरण कमलों को अपनी गोद में रख लिया, तो किसी ने उनके कर कमलों को। वे उनके संस्पर्श का आनन्द लेती हुई कभी-कभी कह उठती थीं- कितना सुकुमार है, कितना मधुर है। इसके बाद श्रीकृष्ण के छिप जाने से मन-ही-मन तनिक रूठकर उनके मुँह से ही उनका दोष स्वीकार कराने के लिये वे कहने लगीं ॥ 15 ॥

गोप्य ऊचुः

भजतोऽनुभजन्त्येक, एक एतद्विपर्ययम् ।

नोभयां(म्)श्च भजन्त्येक, एतन्नो ब्रूहि साधु भोः ॥ 16॥

भजतो+ ऽनुभजन् + त्येक, एतद्+ विपर्ययम्

गोपियों ने कहा - नटनागर ! कुछ लोग तो ऐसे होते हैं, जो प्रेम करने वालों से ही प्रेम करते हैं और कुछ लोग प्रेम न करने वालों से भी प्रेम करते हैं। परंतु कोई-कोई दोनों ही प्रेम नहीं करते प्यारे। इन तीनों में तुम्हें कौन-सा अच्छा लगता है ? ॥ 16 ॥

श्रीभगवानुवाच

मिथो भजन्ति ये सख्यः(स्), स्वार्थैकान्तोद्यमा हि ते ।

न तत्र सौहृदं(न्) धर्मः(स्), स्वार्थार्थं(न्) तद्धि नान्यथा ॥ 17॥

स्वार्थैकान्+ तोद्यमा

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा- मेरी प्रिय सखियों जो प्रेम करने पर प्रेम करते हैं, उनका तो सारा उद्योग स्वार्थ को लेकर है। लेन-देनमात्र है। न तो उनमें सौहार्द है और न तो धर्म। उनका प्रेम केवल स्वार्थ के लिये हो है; इसके अतिरिक्त उनका और कोई प्रयोजन नहीं है ॥ 17 ॥

भजन्त्यभजतो ये वै, करुणाः(फ्) पितरो यथा ।

धर्मो निरपवादोऽत्र , सौहृदं(ञ्) च सुमध्यमाः ॥ 18॥

भजन्त्य+ भजतो, निर+ पवादोऽत्र

सुन्दरियों जो लोग प्रेम न करने वाले से भी प्रेम करते हैं-जैसे स्वभाव से ही करुणाशील सज्जन और माता-पिता-उनका हृदय सौहार्द से, हितैषिता से भरा रहता है और सच पूछो, तो उनके व्यवहार में निश्छल सत्य एवं पूर्ण धर्म भी है ॥ 18 ॥

भजतोऽपि न वै केचिद् - भजन्त्यभजतः(ख्) कुतः ।

आत्मारामा ह्याप्तकामा, अकृतज्ञा गुरुद्रुहः ॥ 19॥

कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो प्रेम करने वालों से भी प्रेम नहीं करते, न प्रेम करने वालों का तो उनके सामने कोई प्रश्न ही नहीं है। ऐसे लोग चार प्रकार के होते हैं। एक तो वे, जो अपने स्वरूप में ही मस्त

रहते हैं जिनको दृष्टि में कभी द्वैत भासता ही नहीं दूसरे वे, जिन्हें द्वैत तो भासता है, परन्तु जो कृतकृत्य हो चुके हैं: उनका किसी से कोई प्रयोजन ही नहीं है। तीसरे वे हैं, जो जानते ही नहीं कि हम से कौन प्रेम करता है; और चौथे वे हैं, जो जान-बूझकर अपना हित करने वाले परोपकारी गुरुतुल्य लोगों से भी द्रोह करते हैं, उनको सताना चाहते हैं ॥ 19 ॥

नाहं(न्) तु सख्यो भजतोऽपि जन्तून्
भजाम्यमीषामनुवृत्तिवृत्तये ।
यथाधनो लब्धधने विनष्टे
तच्चिन्तयान्यन्निभृतो न वेद ॥ 20॥

भजाम् + यमीषा+ मनुवृत्ति+ वृत्तये, तच्चिन् + तयान्यन्+ निभृतो

गोपियों! मैं तो प्रेम करने वालों से भी | प्रेम का वैसा व्यवहार नहीं करता, जैसा करना चाहिये। मैं ऐसा केवल इसी लिये करता हूं कि उनकी चित्तवृत्ति और भी मुझ में लगे, निरन्तर लगी ही रहे। जैसे निर्धन पुरुष को कभी बहुत-सा धन मिल जाय और फिर खो जाय तो उसका हृदय खोये हुए धनकी चिन्ता से भर जाता है, वैसे ही मैं भी मिल-मिलकर छिप-छिप जाता हूँ ॥ 20 ॥

एवं(म्) मदर्थोज्झितलोकवेद-
स्वानां(म्) हि वो मय्यनुवृत्तयेऽबलाः ।
मया परोक्षं(म्) भजता तिरोहितं(म्)
मासूयितुं(म्) मार्हथ तत् प्रियं(म्) प्रियाः ॥ 21॥

मदर्थोज्+ झितलो+ कवेद, मय्यनु+ वृत्तयेऽ+ बलाः

गोपियों ! इसमें सन्देह नहीं कि तुम लोगों ने मेरे लिये लोक मर्यादा, वेदमार्ग और अपने सगे-सम्बन्धियों को भी छोड़ दिया है। ऐसी स्थिति में तुम्हारी मनोवृत्ति और कहीं न जाय अपने सौन्दर्य और सुहाग को चिन्ता न करने लगे, मुझमें ही लगी रहे—इसीलिये परोक्षरूप से तुम लोगों से प्रेम करता हुआ ही मैं छिप गया था। इसलिये तुम लोग मेरे प्रेम में दोष मत निकालो। तुम सब मेरी प्यारी हो और मैं तुम्हारा प्यारा हूँ ॥ 21 ॥

न पारयेऽहं(न्) निरवद्यसंयुजां(म्)
स्वसाधुकृत्यं(व्) विबुधायुषापि वः ।
या माभजन् दुर्जरगेहश्रृं(ङ्)खलाः(स्)
सं(व्)वृश्च्य तद् वः(फ्) प्रतियातु साधुना ॥ 22॥

दुर्जरगे+ हश्रृं(ङ्)खलाः(स्)

मेरी प्यारी गोपियों ! तुमने मेरे लिये घर-गृहस्थी की उन बेड़ियों को तोड़ डाला है, जिन्हें बड़े-बड़े योगी यति भी नहीं तोड़ पाते। मुझसे तुम्हारा यह मिलन, यह आत्मिक संयोग सर्वथा निर्मल और सर्वथा निर्दोष है। यदि मैं अमर शरीर से- अमर जीवन से अनन्त काल तक तुम्हारे प्रेम, सेवा और त्याग का

बदला चुकाना चाहूँ तो भी नहीं चुका सकता। मैं जन्म-जन्म के लिये तुम्हारा ऋणी हूँ। तुम अपने सौम्य स्वभाव से, प्रेम से मुझे उऋण कर सकती हो। परन्तु मैं तो तुम्हारा ऋणी ही हूँ ॥ 22 ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहं(म्)स्यां(म्) सं(म्)हितायां(न्)
दशमस्कन्धे पूर्वार्धे रासक्रीडायां(ङ्) गोपीसान्त्वनं(न्) नाम द्वात्रिं(म्)शोऽध्यायः ॥

ॐ पूर्णमदः(फ्) पूर्णमिदं(म्)पूर्णात्पूर्णमुदच्यते
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।
ॐ शान्तिः(श्)शान्तिः(श्)शान्तिः।।